प्रभु प्रसाद मिले तो

धन्यवाद

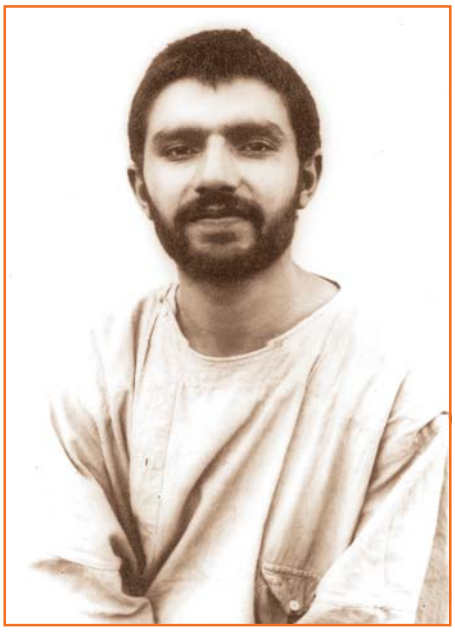

श्री गुरु पद नख मनि गन जोती।
सुमिरत दिव्य दृष्टि हियँ होती॥

भावार्थ:- श्री गुरु महाराज के चरण-नखों की ज्योति मणियों के प्रकाश के समान है, जिसके स्मरण करते ही हृदय में दिव्य दृष्टि उत्पन्न हो जाती है।

संकलन - शीला गौहरी, जालन्धर

प्रथम संस्करण -
द्वितीय संस्करण - अप्रैल 2016

1000 प्रतियाँ

मूल्य: रु.

प्रकाशक
साधना परिवार
स्वामी रामानन्द साधना धाम
संन्यास रोड, कनखल
हरिद्वार, उत्तराखण्ड

मुद्रक
रैक्मो प्रैस प्राईवेट लिमिटेड
सी-59, ओखला इण्डस्ट्रियल एरिया फेज़-1
नई दिल्ली-110020

श्रीराम

'अमृत कण'

पूज्य श्री स्वामी रामानन्द महाराज जी की पुस्तकों में से

प्रेम करने की योग्यता व्यक्ति के अध्यात्म विकास का माप है। प्रेम करना ऊँचे उठने और उठाने का साधन है। दूसरों के दोषों को दूर करने का, दूसरों में आत्म विश्वास उत्पन्न करने का, दूसरों को विकास के पथ पर अनुगामी करने का, प्रेम सा अचूक उपाय नहीं। प्रेम के द्वारा ही दूसरों के छिपे हुये अद्‌भुत सामर्थ्य, जिन्हें वह भी नहीं जानते, प्रकट होते हैं। दुनियाँ के बड़े व्यक्तियों के अद्‌भुत कृत्यों के पीछे हम छिपी हुई किसी के प्रेम की शक्ति को प्रायः देख पायेंगे।

शारीरिक सामंजस्य के लिये भी प्रेम का महत्त्व कम नहीं। प्रेम का भाव उत्पन्न होते ही शरीर में एक सौम्य शैथिल्य (Serene relaxtion) पैदा होता है। शरीर हल्का हो जाता है। एक विस्तार का भाव सा हृदय में जागृत होता है। हमारे बहुत से रोगों का कारण हमारे दूषित भाव होते हैं।

प्रत्येक व्यक्ति गुण दोषों का समुच्चय है। अतः यदि व्यक्ति प्रीति करना चाहे तो उसे दूसरों के गुणों का अन्वेषण करना होगा। प्रीति स्वयं पनपने लगेगी। वे हमें अच्छे लगेंगे और हम उनको अच्छे लगने लगेंगे।

माँ, तू मुझे अपने पावन प्रेम से ओत-प्रोत कर दे और मैं उससे इस विश्व को ओत प्रोत कर दूँ।

प्रेम की भूख मानव विकास की आवश्यकता है। प्रेम करना प्रेम पाना है। आन्तरिक स्पन्दनों के ठीक अनुकूल ही बाह्य क्षेत्र में स्पन्दन उत्पन्न होते हैं।

व्यक्ति की साधना भी व्यक्ति के लिये न हो, समष्टि के लिये हो। सेवा का मूलभूत सिद्धान्त नि:स्वार्थता है। परन्तु पाषाण सी स्वार्थहीनता नहीं। नि:स्वार्थता का अर्थ है - पर स्वार्थ, पर हित, दूसरों की भलाई में अपनी शक्ति लगा देना। **वास्तव में जो दिया जा सकता है,** उसकी मात्रा सीमित ही है, परन्तु जो उसके उपलक्ष्य में प्राप्त होता है, उसकी कोई सीमा नहीं। **व्यक्ति अपने अहम् की सीमाओं को खोने मात्र से नि:सीम से जीवित सम्पर्क जोड़ लेता है।**

सेवा व्यक्ति का कर्त्तव्य है, जो उसके विकास का पथ है। यही कर्म-योग है। कर्म आत्म सेवा बन जाता है, समाज की सेवा रहते हुये भी वह भगवान की भी सेवा है।

स्वार्थमय जीवन ही पशु-जीवन का ठीक ठीक नक्शा है। **भगवान को पुष्पों की अंजलि देने से कहीं अच्छा है कर्मों की अंजलि अर्पण की जाये।**

सेवा को सेवा बनाने के लिये प्रेम आवश्यक है। दूसरों का हित-चिन्तन, उनके लिये मंगल कामना करना, विचार शक्ति का सेवा क्षेत्र में उचित उपयोग है।

''पूर्णता तो प्रभु में ही है। इस मन में, बुद्धि में, तन में कितनी कमियाँ हैं, इसे तो वही जगत जननी जानती है। उनको निकालना भी उसका काम है। झुकना कैसा अच्छा होता है। झुकने में मधुरता है और विजय है। अकड़ने वालों ने ही मुझे झुकना सिखाया है, जितना भी सिखाया है।

हार और जीत में मूर्ख लोग अन्तर देखते हैं। मुझे तो हार, जीत दिखाई पड़ती है और जीत, हार।

♦♦♦♦♦

कैलाश-दर्शन से

जब मैंने इन अल्मोड़ा के पर्वतों में पहले-पहल प्रवेश किया था; वह एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण घटना जीवन की दिशा को अमूल चूल बदल देने वाली थी। मैं मोटर में था, सायं का समय था और मोटर दौड़ती हुई सोमेश्वर की ओर जा रही थी। किसी ऊँची अदेहधारी चेतना ने मेरा इन पर्वतों में स्वागत किया और लक्ष्य की प्राप्ति का आश्वासन भी दिया। उस चेतना का रक्षामय हस्त मेरे सिर पर बना ही रहा, ऐसा मैं प्रतीत करता रहा हूँ।

समय बीतता गया। वह समय भी आया जब मुझे उस चेतना का स्फुट अनुभव होने लगा। मैं पहचानने लगा कि वह कौन है जिसकी कृपा का मैं पात्र बना हूँ। **मैं उस चेतना को आदि गुरु शंकर की चेतना समझने लगा।** वह आन्तरिक जगत का भान था। पौराणिक शिव का इसके साथ कोई सम्बन्ध न था। **वह चेतना मुझ में और मैं उस चेतना में धीरे-धीरे रमने लगे।** महाशक्ति के विचित्र प्रवाह को मैंने वहाँ अनुभव किया।

मै किस मनोवृत्ति को लेकर चला जा रहा था कैलाश की ओर। कभी भाव उमड़ते थे और प्रीति की, श्रद्धा की तरंगें उद्वेलित होती थीं। मैं तो श्रद्धाँजलि चढ़ाने जा रहा था यदि इतना अहंकारमय प्रयोग मैं कहने के लिये कर सकूँ तो।

यह भान तो मुझे प्रथम ही हो चुका था कि यह यात्रा मेरे जीवन में **विशेष महत्त्व के अनुभवों को जागृत कर देगी** आध्यात्मिक दृष्टि से। ... मेरे लिये मेरे अनुभव का ठोस सत्य आज भी है केवल काल्पनिक नहीं। मैं ऐसे अनुभवों में अपने को अकेला भी नहीं पाता हूँ। आध्यात्मिक संवेदनशीलता का अतिशय ही इस प्रकार की अनुभूतियों में कारण रहता है।

न केवल सुखेच्छा से व्यक्ति में ज्ञान तथा सामर्थ्य का उदय होता है, सुख की अनुभूति उसके चैतन्य को विकसित कर देती है। सुख की प्रतीति, अनुभूति की योग्यता बढ़ाती है। दृष्टिकोण भी विकसित करती है। वह व्यक्ति जिसने सुख का उपभोग नहीं किया, उसका जीवन अधूरा है और उसका भी जिसने कभी दु:ख का अनुभव नहीं किया। दु:ख भी आवश्यक है और सुख भी।

बाह्य सुख को प्राप्त करने की इच्छा और दु:ख से भागने की प्रवृति विकास की एक सुदृढ़ प्रेरणा है। इन्हीं से व्यक्ति सचेत होता है। जब व्यक्ति का चैतन्य बाह्य सुख का अनुभव करता हुआ जग उठता है, आन्तरिक सुख-स्रोत को पहचानने के योग्य हो जाता है तो यह इच्छा स्वयं शान्त होने लगती है।

जब व्यक्ति को कर्त्तव्य का बोध हो जाता है और उसे करने में प्रवृत्ति होती है तो सुख के लालच की आवश्यकता नहीं रहती, न दु:ख के भय की। यह दोनों विकास की उस अवस्था में शान्त हो जाते हैं। बाह्य सुख तथा दु:ख की प्रतीति भी मौन हो जाती है।

♦♦♦♦♦

सृष्टि एक समुदाय है, और समुदाय भी सजीव सा। हमारी सीमित दृष्टि ही उसमें विभेद करती है। हमारी इन्द्रियों की योग्यता ही उसे विभिन्न श्रेणियों में विभाजित कर देती है। इसी तरह से व्यक्ति भी एक इकाई है और एक इकाई की तरह ही क्रिया भी करता है, परन्तु समझने के लिये भेदों की रचना आवश्यक हो जाती है। इस समुदाय का विकास ही अध्यात्म विकास है बाकी सभी विकास इसी का अंश हैं।

♦♦♦♦♦

व्यक्ति की बुद्धि सीमाओं से अतीव सीमित है। स्थूल जगत की अनुभूतियों से सूक्ष्म लोक के अनुमान लगने असम्भव हो जाते हैं। अपने विचार तथा भावों की सीमा, आसक्तियों के बन्धन, तथा अहम् की बेड़ियाँ व्यक्ति को व्यक्तित्त्व से ऊपर उठने नहीं देती। परन्तु अध्यात्म-विकास

के रहस्य को जानने के लिये व्यक्तित्त्व से ऊपर उठ जाना आवश्यक है।

♦♦♦♦♦

जब हम दार्शनिक क्षेत्र में प्रवेश करते हैं तो भी इस विश्व का प्रयोजन हमें विकास – चैतन्य का पूर्ण विलास – ही समुचित प्रतीत होता है। इस विश्व की सजीव सत्ताओं का नैसर्गिक स्वभाव ही विकास प्रतीत होता है। इसी में मनुष्य को भी आत्मतृप्ति मिलती है। महत्ता की प्राप्ति शक्तियों का पूर्ण विकास ही अन्तरात्मा की भी पुकार है।

♦♦♦♦♦

परिस्थिति का समुचित उपयोग ही मानुषी विकास का नियम है। इसी को हम स्वधर्म कह कर पुकारेंगे।

♦♦♦♦♦

मन ही मानवता का चिन्ह है। मन विचारमय भी है और भावमय भी। यही चैतन्य का सर्वोत्कृष्ट विकास इस समय दिखाई पड़ता है।

♦♦♦♦♦

जितना व्यक्ति सभ्य और शिष्ट होता चला जाता है, उतना ही उसके मूल्य आँकने के पैमाने बढ़ते चले जाते हैं। अहम् जितना बढ़ा हुआ हो, उतनी ही अधिक उसे अपमान की चोट प्रतीत होती है। सत्त्वगुण की प्रधानता में सहनशीलता और समझ आ जाती है।

♦♦♦♦♦

आकाश-मण्डल में सूक्ष्म विचार-तरंगें और भाव तरंगें रहती हैं, कहीं से चल कर वे अलक्षित ही हमारे मस्तिष्क में और हृदय में प्रवेश पा जाती हैं। हम मूर्खता से समझते हैं यह हमारा विचार है, यह हमारा भाव है। मेरे विचार मेरे ही नहीं हैं। आज तक सारे विश्व की अनुभूति मुझ में प्रतिफलित है। मैं तो एक महान् शृंखला की कड़ी मात्र हूँ।

♦♦♦♦♦

मानव-चेतना के विकास के लिये कर्म आवश्यक है। कर्म विकास का साधन है। स्वधर्म की दृष्टि कर्म में से फलासक्ति को स्वत: निकाल देती है। कर्त्तव्य का भाव प्रधान हो जाता है। हमारे लिये सब से हितकर है हमारा कर्म क्योंकि यह हमारा स्वधर्म है - हमारे अध्यात्म-कल्याण की सीढ़ी है। अत: स्वधर्माचरण से व्यक्ति का अन्त:करण शुद्ध होता चला जाता है, उसके भीतर समता और दृढ़ता आती चली जाती है।

अन्त:करण का आसक्ति से रहित होते जाना व्यक्ति के कल्याण की ओर प्रवृत्त होने का अचूक लक्षण है। जीवन की लालसा भी शान्त हो जाती है।

♦♦♦♦♦

- जीवन को ऊँचा बनाओ, अपने लिये तथा दूसरों के लिये उपयोगी और प्रभु की ओर तेजी से ले जाने वाला हो।
- मानव का दु:ख दूर करना ही उपासना है। सेवा की प्रेरणा दूसरों के दु:ख को अनुभव करने से मिलती है। सेवा की भावना मानव की अमूल्य निधि है।
- हमारे भीतर सच्चिदानन्द छिपा है, हमें उसे पूर्णरूपेण व्यक्त करना है। हमें सर्वशक्तिमान (सत्), सर्वज्ञ (चित्) तथा आनन्दमय होना है। यही सीढ़ी है जिसे विकास के क्रम में हमें चढ़ना है, जिसके चढ़े बिना हमें चैन नहीं मिल सकता।
- आत्मा में विकास होता है - इन शब्दों को सुनकर कई एक चौंक उठेंगे। जो अपने में पूर्ण है, जो सब सम्बन्धों से परे है - जो गुणों से अतीत है, उसमें विकास की कल्पना? वास्तव में विकास शब्द के अर्थों को यदि हम विचारपूर्वक जानें तो ऐसी घबराहट न हो। विकास में नई उत्पत्ति नहीं होती, केवल मात्र भीतर छिपी हुई शक्ति ही प्रगट होती है। आत्मा के पूर्णत्त्व को प्रकृति में प्रगट करना है - यही इस आध्यात्मिक विकास का लक्ष्य है।
- ज्यों-ज्यों व्यक्ति अपने सीमित व्यक्तित्त्व का अतिक्रमण करता है,

जैसे-जैसे उसकी दृष्टि द्वन्द्वों से ऊपर उठती है, और कम होती चली जाती है, वैसे-वैसे वह देखता है कि उसके जीवन की गत जीवन की प्रत्येक गति उसे पुरुषोत्तम के पूर्णत्त्व की ओर ले जाने वाली थी। यदि इस जीवन वृत्त की शृंखला में से एक कड़ी भी छूट जाती तो न जाने उसकी स्थिति कहाँ होती?

- अशुभ से उदित होते हुये शुभ को पहचानना और उसे प्रोत्साहित करना - यह तरीका है आगे चलने और चलाने का। अशुभ दु:ख का कारण होता है। यह दु:ख व्यक्ति को सचेत करता है और समय आने पर व्यक्ति अपने को अशुभ से ऊपर उठा लेता है। ... शुभ के द्वारा व्यक्ति में सत्त्व का उदय होता है - मति निर्मल होती है और हृदय निर्भय होता है।
- इसमें सन्देह नहीं कि हम जो कुछ हैं - जिस पूँजी के साथ हमने प्रवेश किया था इस संसार में, उसका आधार पुराने कर्मों में ही है, परन्तु उस पर हमारी अपनी आत्मा की चुनाव की छाप इसमें सन्देह नहीं कि उसी आधार पर हम आगे क्रिया करते हैं, परन्तु यह भी सुनिश्चित ही है कि **हमें क्रिया करने में एक बहुत हद तक स्वतान्त्रय है**। हम अपनी विचार की गति के द्वारा अपने उस आधार को भी बदल सकते हैं, **अपने कर्मों द्वारा अपनी पुरानी प्रवृत्ति का भी परिवर्तन कर सकते हैं।**
- पुरुषोत्तम भगवान साधक के सदैव सन्निकट हैं। वह एक हैं, परन्तु अनेकों के अन्त:स्थल में हैं। वह चेतना हैं, वह शक्ति हैं, वही महाशक्ति हैं, सब का आदि कारण वह सत्ता हैं।
- वास्तव में हमारी अशान्ति का कारण होती हैं हमारी ही वासनायें, असक्रियता और भय। इनसे छुट्ठी मिल जाती है जैसे-जैसे आत्मशोधन होता है।
- भक्त की निधि है प्रभु चरणों का प्यार। नाम का स्मरण होना ही चाहिये क्योंकि वह प्रीति को पैदा कर सकता है।

- प्रभु के प्रति आसक्ति व्यक्ति की सभी अन्य आसक्तियों को दूर कर देती है।
- जिसने सभी में प्रभु पहचाना है, उसका व्यवहार ही भिन्न हो जाता है। वह सभी में उसका पूजन करता है, सेवा करता है, नमस्कार करता है।
- बिना अन्त:शोधन के दूर तक नहीं जाया जा सकता। बिना अन्दर बाहर निर्मल हुये कैसे पहुँचा जायेगा प्रभु धाम तक और बिना व्यवहार की निर्मलता के निर्मल कोई कैसे होगा।
- प्रभु को जान लिया जाये और फिर जीवन उसके अर्पण किये बिना रह सके, यह हो नहीं सकता। वह तो इतना हमारा है कि उसके हुये बिना रहा नहीं जाता।
- प्रभु भक्तों का गुण-गान करने से व्यक्ति पवित्र हो जाता है।
- सुख की अन्धाधुन्ध खोज ही सुख का हनन कर देती है। वैसा करने में स्वार्थ और पाप पनपता है। अत: वह दु:ख का कारण बन जाता है। सुख संगृहीत हो ही नहीं पाता है क्योंकि **सुलभ हुआ सुख अपने रस से रहित हो जाता है।**
- जैसा हम सोचते हैं वैसा ही हमारा **विचारमय कोष** होता चला जाता है। कर्म हमारे निर्माण का साधन है। हम जैसा बनना चाहें वैसे प्रभावों को भीतर से जागृत करें और बाहर से संगृहीत करें।
- मूर्ख व्यक्ति तो अपने को कर्ता समझता है।
- हमारा आचरण बिना वाणी के ही दूसरों को बदल देता है।
- जब तक व्यक्ति अपने भीतर आनन्द के स्रोत को पा नहीं जाता, जब तक वह अपने को आनन्दमय-भाव में अनुभव नहीं कर लेता, तब तक वह आनन्द की खोज प्रकृति में करता है। सुख बाहर की वस्तुओं में घटनाओं और व्यक्तियों में नहीं मुझ में ही है।

♦♦♦♦♦

ऐ पथ गामी।

ऐ पथ गामी।
पग धीरे धीरे धरना।
विषम भूमि, अपरिचित मग में।
सोच समझ कर चलना।
ऊँचे में है,
और ऊँचे से ऊँचे में है।
दूर दूर अति दूर, लक्ष्य तो दूरी में है।
पर न मचलना, व्याकुल होना,
धीरज धर, धीरे से चलना।
प्यारे पहचान,
जीवन के धन को,
आगे ले जाने वाले अमृतपन को
परा शक्ति के अवलम्बन को
मग में न अटकना
हे पथ गामी,
पग धीरे धीरे धरना।

♦♦♦♦♦

सद्विचार

1. प्रभु का बल जीवन में साथ रहता है।
2. अभी मिटना नहीं आया है, अभी अपनापन बहुत है जो मिटने से भागता है। मुझे तो पूरी तरह से मिट जाना ही तो सीखना है।
3. अधूरों में दोष किसे दें अधूरेपन का। किसी को भी क्यों तोला जाये। तोलना ही मूर्खता मालूम होती है। सभी अपनी प्रगति के अनुसार लीला करते हैं। किसी मनुष्य को पूरा समझना भगवान को समझ लेना शायद समान काल में ही होते होंगे।
4. चेतना की एक स्थिति है जिसमें व्यक्ति को कुछ बुरा ही नहीं लगता।
5. अहम् का क्षय ही भय से नितान्त निवृत्ति प्रदान करता है।
6. मैंने कुछ किया है अथवा कर सकता हूँ, यह कोरा भ्रम है। वही एक मात्र करता है, बाकी दृष्टि का दोष है। अहम् का विकार है।
7. सिर को चरणों पर रखना काफी नहीं, दिल में तड़प होती है, अपने को मिटा देने की। अपनेपन को ही प्रभु में खो देने की। मेरे सभी नियम, सभी समझें उसके चरणों पर अर्पित हो चुकी हैं। शरीर, मन, प्राण में जैसे वह करवाता है, वह करता है। सारा खेल - भीतर और बाहर उसी का तो हो रहा है।
8. यूँ तो तुम जिसे भी पूजना चाहते हो, पूजो, परन्तु मांगो कुछ नहीं सिवाय प्रभु चरणों में रति के।
9. धन्य है वह जिसकी समीपता से भीतर का मैल दीखता है। वह प्रभु की कृपा का ही मूर्तिमान रूप हो कर आता है।
10. जितना अहम् मिटता है, उतना ही वास्तविक प्यार प्रकट होता है।

11. प्रभु, तू मेरा पथ है, तू ही निर्दिष्ट लक्ष्य है। माँ, बरस कर शीतल कर दे व्याकुल हृदयों को, अपनी सच्ची निष्ठा से। विश्वास तथा अनन्य श्रद्धा से भर दे जिससे यह पथ भ्रष्ट न हो पायें। तू बस जा भक्ति और शक्ति के रूप में। ज्ञान और कर्म के रूप में और प्रेम के रूप में।

12. आसक्ति रहित प्रीति करने वाला व्यक्ति ही ऊँची कोटि का सेवक होता है।

13. भीतर से जैसे-जैसे अहम् भावना क्षीण होती जाती है, क्रोध भी दूर होता जाता है।

14. जीवन में कभी पैसे के कारण कोई कार्य रुका नहीं।

15. हृदय को पिघलाना है, माथे को झुकाना है, फिर गाड़ी तेजी से चलेगी। भीतर तड़प होनी चाहिये, पुकार हो सम्पूर्ण के लिये।

16. नियम कठोर होते हुये भी परिर्वतनशील हुआ करते हैं।

17. आप मेरे हों न हों परन्तु मैं आपका हूँ और इसके बदले में मैं कुछ नहीं चाहता। मैं यह भी नहीं चाहता कि आप मेरे हो जायें, मैं सभी का हो जाऊँ, पूर्ण रूपेण सभी का हो जाऊँ। सीमा का अतिक्रमण करता हुआ मैं सभी का हो जाऊँ - काम लगूँ - इसी में आत्म तृप्ति है - कल्याण है।

18. चलते चलते तो विषम अति विषम रास्ते भी कट जाते हैं।

19. शिव! प्रेम और दया से पूर्ण मेरे प्रभु! मेरा हृदय श्रद्धा से उमड़ता है। मैं स्वयं को तुझ में प्रतीत करता हूँ।

बुद्धि जितना ही तुम्हारा विचार करती है उतना ही वह तुम्हें समझने में असमर्थ प्रतीत होती है। **तू मेरे साथ है।** यह प्रतिक्षण अनुभव करता हूँ।

♦♦♦♦♦

- जिस प्रकार के हम होते हैं वैसी ही आत्मा हमें प्रभावित कर सकती है। दूसरा, यदि हम प्रभावित न होना चाहें तो अपने को पवित्र बनाना चाहिये नाम-स्मरण से, भगवद् चिन्तन से, सत्य तथा दृढ़ संकल्प से हमारा aura ऐसा हो जाता है कि बुरे संस्कार इसको बेध ही नहीं सकते।

- सांसारिक अवलम्बन तो सभी अस्थिर हैं। स्थिर अवलम्बन तो प्रभु का ही है। जब हम सांसारिक अवलम्बनों को प्रभु की देन के रूप में स्वीकार करते हैं तो उनके चले जाने पर विकलता नहीं होती।

- सुख और शान्ति तो बहुत कुछ हमारे पर ही निर्भर करती है। इच्छा, कामना, राग तथा द्वेष दुःख को लाते हैं। त्याग, सेवा तथा प्रीति और नम्रता व्यक्ति में सुख का संचार करते हैं। भगवान के समीप होने से शान्ति आती है।

- व्यक्ति धन से बड़ा नहीं होता और न ही मान से बड़ा होता है। वह बड़ा होता है, भगवान के समीप होने से, निर्मल मन होने से, दूसरों की सेवा करने से। यदि हम प्रभु का होना चाहते हैं तो अपने को मिटा देना होगा।

- सेवा ही जीवन की उपयोगिता है और साधना इसका सार। सेवा तथा साधना मिलकर सोना तथा सुहागा हैं।

- भजन साधन में सबसे बड़ी वस्तु है - भगवान में जीवित - विश्वास, उनकी सतत् अवतरित होने वाली कृपा का भरोसा और प्रभु के प्रति स्वस्व समर्पण। यह भक्त का धन है।

- आप लगन-पूर्वक साधन करते चले जाइयेगा। नवरात्र में अवसर हो तो विशेष जापादि करियेगा। अपने व्यवहार को जाँचना - इसमें सरलता को लाना तथा सेवा की जीवित जाग्रत मूर्ति बन जाना - भक्ति के पथ में एक ऊँचा आदर्श है।

- प्रत्येक व्यक्ति की परिस्थिति उसके विकास की माँग का परिणाम है।
- बीमारी तो अहम् है, वह भटकाता है।
- दिन में समय-समय पर हम चिन्तन करें। मन ही मन प्रभु को समीप समझ कर उसके आगे झुक जायें। इस प्रकार प्रभु की समीपता का भाव सदा बना रहने लगता है।
- जीवन का लम्बा होना कोई अर्थवान बात नहीं। जीवन उपयोगी हो, प्रभु के लिये हो। जब तक वह चाहे इसे स्थूल शरीर में रखे और जब न चाहे हटा ले।

♦♦♦♦♦

गीता विमर्ष

- मनुष्य का जीवन - उसका सुख केवल-मात्र वस्तुओं पर निर्भर नहीं करता। वह तो प्रीति पर, आदान-प्रदान पर अधिक आश्रित है, हमारी भीतर की प्रतिक्रियाओं पर अधिक आश्रित है।
- अपना सहारा समाप्त होने पर ही शरणागति पर सच्चाई आती है और प्रभु शरणागत के लिये क्या नहीं करते? उसे शीघ्र ही निश्चिन्त कर देते हैं।
- वही विषाद (दु:ख) और वैराग्य धन्य है जो प्रभु चरणों में स्थिर राग को पैदा कर दे और व्यक्ति को हमेशा विषाद की सम्भावना से परे कर दे।
- शरीर तो हमेशा रहने वाला नहीं, यदि उसके द्वारा व्यक्ति अपने धर्म का पालन कर सकता है, तो वह शरीर भी सार्थक होता है जीने में और मृत्यु में भी। व्यक्ति का मोह मात्र ही मृत्यु से उसे कम्पायमान कर देता है और वह उसे एक भयावह दुर्घटना के रूप में देखने लगता है।
- जीवन एक पाठशाला है। सुख तथा दु:ख दयामय देव के सन्देश प्रतीत होने लगते हैं।
- जैसे सूर्य ने कभी रात्रि को नहीं देखा ऐसे ही हमने मृत्यु का मुख नहीं देखा।
- कर्म को साधना समझता हुआ, इसे प्रभु की ओर जाने का रास्ता मानता हुआ कर्म कर।
- प्रभु चरणों की रति सभी आकर्षणों को समाप्त कर देती है।
- बाहर के स्पर्शों से चेतना को खींचने से ही समाधि की अनुभूति सम्भव है। समाधि है, चेतना का किसी स्तर में अथवा केन्द्र में अवरुद्ध हो जाना पूर्णरूपेण। इसके लिये और स्तरों और केन्द्रों से उसे हटाना आवश्यक हो जाता है।

Thoughts

- Strive to attain the ideal, never mind if you cannot attain it this moment. But pray, never lower the ideal to gain a self complacence (self-deception). It is the greatest impediment on your way.
- Where resistance is necessary, do resist. But to lose temper is no effective way of resistance. That indicates the measure of your weakness. Be quite, composed and determined.
- Train yourself to have gentler emotions, kind words, and loving looks. That transforms others and incidentally transforms you. May the Lord give you strength and wisdom for it.
- Let us help ourselves to Be Happy.
- Let us learn to put ourselves in the position of the other men.
- Dissatisfaction does no good. It harms you and harms others and does not let the best come out of others.
- Remember, if you want to change others (and change yourself) love others intensely. Never, never, for once, bring upon your lips words of advice unless sincerely asked for by others and even then do not expect them to be necessarily carried out.
- The name links us to the Lord. It is a Sadhana complete in itself.

- You may take Rama-nama as you can best adjust it to your mental make up. It is Bhava, it is Shakti, it is Grace and much besides. The more of Bhava (deep feeling filled with sincere inspirations) you have, the sooner will experience begin in the inner realm. Now get ahead with your best vigour.
- I worship the God that is within me and within all. I view persons as instrument in His hands. I worship the truth and I believe that it is the best and ultimate when it comes from within.
- The body and all connected with it are passing things. Their impermanence is to be firmly grasped, but they are neither to be hated nor shunned, but the best use is to be made of them for experience here. That is for what they are.
- Everybody is practically, for all purposes, his own priest.
- With regard to the Lord, there is the law of grace. Create a vacuum and it will be filled. Aspire with faith and His grace will come. He works with His own infinite ways. It is difficult to comprehend them all.
- Keep growing within.
- Realize that entire life, all this game of ups and downs, is a perpetual Sadhana.
- The wider and the loftier our vision, the fewer the chances of discrepancies and stumbling in our thinking. They are resolved more and more easily. In fact, synthesis involves a **shifting in the point** and a

widening of vision. Whenever things seems to come in way, kindly apply both these processes and try to rise as far above intellectual attachments as possible.

- Divine Love is constant. It grows and grows, but never dwindles. Man of love becomes a manifest Divinity. Like the Divine, he is filled with compassion, and is a friend of all living for their good.
- Accept your weaknesses courageously.
- Do not kill yourself in the greedy pursuit of more and more wealth.
- Love for all is the solemn music of the soul.
- Living is an art. If we live rightly, we grow rapidly. Spirituality basically means the proper understanding and acceptance of life. It means proper living of it.
- Pray for faith, surrender and peace.
- The joy that comes from study is nothing as compared to the joy which come from silence – mental, emotional and pranic.
- We need only to recognize our Higher Self and grow nearer and nearer to it. We hold the master key to purity and strength in our Higher Self.
- God's grace comes upon those who pledge their utmost for the path.
- Lifting oneself means getting beyond influence of the lower forces which take man away from God i.e. Kama, Krodh.

Why books should be read?

Books bring us into the presence of the greatest minds that have ever lived. We hear what they said and did. We see them as if they were really alive. We enjoy with them, grieve with them, and their experience becomes ours.

The great and good do not die, even in this world. Embalmed in books, their spirits walk abroad. The book is a living voice. It is an intellect to which one still listens. Hence we ever remain under the influence of great men.

A noble life put fairly on record acts like an inspiration to others. **It exhibits what life is capable of being made.**

The good and true thought may in time of temptation be as an angel of mercy purifying and guarding the soul. It also enshrines the germs of action, for good words almost invariably inspire to good works.

Good books tend to produce high-minded cheerfulness and equanimity of character, they fashion and shape and humanize the mind. They contain the treasured knowledge of the human race. They have been the greatest motive powers in all times.